

## ध्यान का शास्त्रीय निरूपण

एन० एल० जैन

जैन केन्द्र, रीवा, म० प्र०

### प्रस्तावना

तुलनात्मक अध्ययन के वैज्ञानिक युग में समान विचारों, धाराओं एवं पद्धतियों की पारभाषिक शब्दावली की विविधता जिज्ञासुओं के अध्ययन के समय एक व्यवधान के रूप में सामने आती है। सत्रहवीं-अठारहवीं सदी में यह पाया गया कि ज्ञान के विकास की समग्र प्रगति की दर इससे पर्याप्त रूप में प्रभावित होती है। वैज्ञानिकों ने तो पारिभाषिक शब्दावली की एकरूपता का विकास कर अपनी प्रगति में चार चाँद लगाये हैं, पर दार्शनिकों एवं पूर्वी विद्वानों की बात निराली है। उन्हें विविध रूपता में ही एकरूपता के दर्शन होते हैं चाहे वह सामान्य जन के लिये कितनी ही अबोध-गम्य बयों न प्रतीत होती हों। यही कारण है कि जहाँ वैज्ञानिक जगत् विश्व मंच पर विकसित हो रहा है, वही दार्शनिक मंच यथास्थिति में पड़ा है। इसीलिये भारतीय धर्म और दर्शन ऐतिहासिक अधिक होते जा रहे हैं। यह तथ्य ध्यान के निरूपण से भी भलीभाँति प्रकट होता है। यह प्रसन्नता की बात है कि बीसवीं सदी में इस दिशा में विचारात्मक एवं प्रक्रियात्मक विकास के कुछ लक्षण दिखाई दे रहे हैं।

यह सुज्ञात है कि हिन्दू, जैन और बौद्ध विचार धारा में आध्यात्मिक विकास, चरम सुख की प्राप्ति या निर्वाण के लिये ध्यान एक आवश्यक प्रक्रिया है। यह व्यक्ति की बहिर्मुखी दृष्टि को अन्तर्मुखी बनाता है। उसे उदासीन दृष्टा बनाकर सुखानुभूति का मार्ग प्रशस्त करना है। पर प्रारम्भिक जैन शास्त्रों में इसे लोक विपश्यना (शरीर दर्शन या शोधन) या संप्रेक्षा के नाम से बताया गया है। बौद्धों ने इसे विपश्यना या समाधि कहा है। योगशास्त्र इसे ध्यान योग का नाम देता है। यद्यपि सामान्य जन को योग, ध्यान एवं समाधि जैसे शब्द समानार्थक से लगते हैं, पर शास्त्रों में इनके भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। सिद्ध सेन गणि ने योग के छह पर्यायवाची बताये हैं जिनमें ध्यान और समाधि भी समाहित हैं। सामान्यतः ध्यान योग का एक अंग है और उससे समाधि या स्थितप्रज्ञता आती है। फलतः योग ध्यान और समाधि को समाहित करता है।

### योग शब्द का अर्थ

योग शब्द का पारिभाषिक अर्थ प्रत्येक विचार धारा में भिन्न है। जैन इसे मन, वचन व शरीर की क्रियाओं, प्रवृत्तियों के या आत्म के रूप में बताते हैं। इसके ठीक विपरीत, योगशास्त्र इसे चित्त की वृत्तियों के निरोध या केन्द्रण के रूप में व्यक्त करते हैं। बौद्ध मन, वचन, काय के सु-स्थित होने से प्राप्त बोध को योग कहते हैं। यही नहीं, जैनों के प्राचीन ग्रन्थों में भी इस शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं। शिवाय के टीकाकार ने इसका अर्थ कायक्लेश, तप और ध्यान किया है। सूत्र कृतांग, समवायांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन व आवश्यक सूत्र में भी अनेक अर्थों में इसका उपयोग है। अर्थापत्ति से ही हम इसका सही अर्थ मान सकते हैं।

व्याकरण के अनुसार भी, 'युजिर' और 'युज्' धातु से बननेवाले योग शब्द के दो अर्थ होते हैं—इनमें से एक अर्थ तो समाधि होता है। पर सामान्य व्यवहार में योग शब्द जोड़, मिलन, बन्धन, संयोग आदि की भौतिक क्रियाओं का निरूपक है। इस दृष्टि से जैन-सम्मत अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। योग का एक अन्य अर्थ जोतना भी है जिसके बिना अच्छी आध्यात्मिक प्रगति न हो सके। सारणी में विभिन्न भारतीय पद्धतियों में योग शब्द के अर्थ दिये गये हैं। इससे प्रकट होता है कि योग शब्द की अर्थयात्रा आध्यात्मिक विचार धारा के विकास के साथ भौतिक क्रियाओं से प्रारम्भ होकर आध्यात्मिक विकास की प्रक्रियाओं में विलीन होती है। इसीलिये जैनों ने प्रत्येक तत्त्व को भौतिक (द्रव्य) और आध्यात्मिक (भाव) रूप में वर्गीकृत कर विवरण दिये हैं। सारणी। से स्पष्ट है कि अन्य पद्धतियों में,

### सारणी १ : योग शब्द के अर्थ

पद्धति	अर्थ	समकक्ष पारिभाषिक शब्द
वेद	जोड़ना, इन्द्रिय वृत्ति, इन्द्रिय नियन्त्रण	—
उपनिषद्	ब्रह्म से साक्षात्कार कराने वाली क्रिया	योग
गीता	कर्म करने की कुशलता	योग, कर्मयोग
योग दर्शन	चित्त वृत्ति निरोध	योग
बौद्ध	बोधि प्राप्ति	समाधि
जैन	(i) मन, वचन, शरीर की प्रवृत्ति (ii) आत्माशक्तिविकासी क्रिया (हरिभद्र)	योग, आलव योग, समाधि, ध्यान
व्याकरण	जोड़ना, समाधि, जोतना	

योग शब्द का अर्थ जैनों की मूल मान्यता से भिन्न है। उत्तरवर्ती जैनाचार्यों ने अर्थ-समकक्षता प्रदान की है। सामान्य जन में भी यही अर्थ रूढ़ है। इसके मूल अर्थ का अध्यात्मीकरण हो गया है और इसे आत्मा-परमात्मा के मिलन के रूप में तक प्रकट किया जाता है। यह स्वाभाविक है कि योग का ऋणात्मक (विभेदात्मक) अर्थ भी पाया जावे। इसलिये बहिर्मुखी दृष्टि के निरोध और अन्तर्मुखी दृष्टि की जागृति के रूप में इसे व्यक्त किया जाता है। वस्तुतः योग-अभ्यास से शरीर, वचन एवं मन के दूषित मल बाहर हो जाते हैं और अन्तर्मुखी ऊर्जा प्रकट होती है। इसके विपर्यास में, योगी शब्द का अर्थ प्रायः सभी पद्धतियों में एकसा ही माना जाता है। यह एक विशेष प्रकार के अ-सामान्य एवं आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न व्यक्तित्व का निरूपक है।

योग के समान ही संयम शब्द भी है। योग दर्शन में इसका अर्थ धारणा, ध्यान एवं समाधि की त्रयो से लिया जाता है। जैन दर्शन में सम्यक् प्रकार से व्रतादि के पालन के लिये इन्द्रिय एवं प्राणियों की पीड़ा के परिहार के प्रयत्न से लिया जाता है। बौद्ध के यहाँ यह 'शील' हो जाता है। फिर भी, यह सभी जानते हैं कि संयम और योग परस्पर सम्बन्धित हैं।

ध्यान भी इसी प्रकार का एक महत्वपूर्ण शब्द है। बौद्ध दर्शन में शील, समाधि एवं प्रज्ञा की त्रयो में ध्यान और समाधि समानार्थक ठहरते हैं। योग दर्शन में ध्यान समग्र अष्टांग योग का एक उच्च स्तरीय घटक है। जैन दर्शन में यह संवर एवं निर्जरा का एक घटक है। ध्यान की एकालम्बनी चित्त वृत्ति या चित्त वृत्ति की एकतानता की परिभाषा से पतंजल योग तथा जैन संवर-निर्जरा प्रायः समानार्थी लगते हैं। पर इनके अनेक विवरणों में भिन्नता पाई जाती है। इस भिन्नता के बावजूद भी दोनों के परिणाम एक समान होते हैं।

योग के समान ध्यान के भी अनेक पर्यायवाची शब्द हैं जिनमें साम्यभाव, समरसीभाव, बुद्धि-रोध, अन्तःसल्लीनता, सबीजता, समाधि, स्वान्त निग्रह आदि प्रमुख हैं। इन नामों से स्पष्ट है कि इनमें अधिकांश ध्यान के फल ही हैं।

जैनाचार एवं प्रवृत्ति क्षेत्र में, प्रारम्भिक ग्रन्थ में योग शब्द स्वतन्त्र रूप से नहीं पाया जाता। वहाँ ध्यान के ही स्फुट विवरण मिलते हैं। इसे साधु धर्म का शीर्ष कहा गया है। उत्तरवर्ती समय में योग की परिवर्द्धित एवं समकक्ष परिभाषा के अनुसार उस पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये। आज स्थिति यह है कि ध्यान के सात ग्रन्थों की तुलना में योग पर १६-२६ ग्रन्थों की सूची टाटिया और दिगे ने दी है। अनेक ग्रन्थों में ध्यान और योग दोनों को मिलाकर ध्यान योग का वर्णन मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरवर्ती आचार्यों पर पतंजल योग की महत्ता और व्यापकता का इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने ध्यान के बदले योग पर ही ग्रन्थ लिखे जिनमें ध्यान का भी वर्णन मिलता है। इसका कारण यह रहा कि दोनों परम्पराओं में इन दोनों शब्दों की परिभाषा समानार्थी हो गई। फिर, जैनों ने सदैव देश, काल व क्षेत्र की परम्पराओं को उदारता पूर्वक समाहित किया है। यह तथ्य 'प्रत्यक्ष' शब्द की परिवर्द्धित परिभाषा तथा 'प्रमाण' शब्द की समय-समय पर संशोधित परिभाषाओं से स्पष्ट होता है। यही कारण है कि जैन ग्रन्थों में भी पतंजल के अष्टांग योगों के आधार पर विवरण पाये जाते हैं। अनेक विवरण विकसित रूप में भी हैं। पर ये विवरण ७-८वीं सदी और उसके बाद के ही हैं।

ध्यान सम्बन्धी प्रारम्भिक विवरण हमें आचारांग, स्थानांग एवं भगवती सूत्र में भगवान महावीर के 'संपक्खिए अप्पगमप्ययेण' के सिद्धान्त पर आधारित कायोत्सर्ग मुद्रा, नासाग्र दृष्टि एवं उकडू आसन आदि के रूप में मिलता है। ये सभी प्रक्रियायें योग दर्शन में भी हैं। जैन ध्यान साहित्य के लेखक आचार्यों में कुंदकुंद, शिवार्य, पूज्यपाद, हरिभद्र, शुभचन्द्र, हेमचन्द्र, यशोविजय गणि आदि प्रमुख हैं। इस विषय में वर्तमान युग में उपाध्याय अमर मुनि, आचार्य तुलसी, युवाचार्य महाप्रज्ञ और उनके सहयोगी साधुवृन्द, आचार्य हस्तीमल एवं कुछ शोधकर्ताओं ने अच्छा साहित्य प्रस्तुत किया है। तुलसी जी और हस्तीमल जी ने क्रमशः प्रेक्षा ध्यान एवं समीक्षण-ध्यान के नाम से ध्यान को प्रतिष्ठित कर इसे व्यक्तिगत या मात्र साधु-जीवन की प्रक्रिया के बदले सामूहिक प्रक्रिया के रूप में विकसित कर इसकी व्यापकता एवं उपयोगिता को ही नहीं, अपितु इसकी वैज्ञानिकता को भी परिपुष्ट किया है। इससे धर्म की मात्र व्यक्ति-विकासिनी विचार-धारा को समूह-विकासिनी वृत्ति के रूप में परिणत होने का अवसर मिला है।

### ध्यान की शास्त्रीय परिभाषा

ध्यान शब्द 'धै' संप्रसारणे, प्रवाहे या ध्याने घातु का ल्युट्-प्रत्ययी रूप है। इससे शरीर और मन की वृत्तियों के समुचित दिशा में प्रसारण, प्रवाह या अवस्थान के प्रक्रम को ध्यान माना जा सकता है। इसे आध्यात्मिक अर्थों में सांख्य ने 'ध्यानं निर्विषयं मनः' माना है। पातंजल इससे अधिक व्यावहारिक है। उसने निर्विषयता के स्थान पर 'तत्र-एक तानता ध्यानं' कह कर लक्ष्य प्राप्ति की ओर इंगित कर दिया। इससे विपर्यास में, जैन आगमों में शरीर प्रेक्षा और सम्प्रेक्षा (अंतरंग प्रेक्षा) को ध्यान का रूप बताया है। आगमिक आचार्य ध्यान को शारीरिक एवं मानसिक नियंत्रण एवं सन्तुलन का साधन मानते हैं। इसीलिये वे कायोत्सर्ग और विषयना के अन्तर्गत सूक्ष्म आनप्राण लब्धि तथा महा-प्राण ध्यान का भी उल्लेख करते हैं। वस्तुतः आगम युग में यह मान्यता रही होगी कि मनोवृत्तियों की एकाग्रता बिना शरीर शोधन के नहीं हो सकती। शिवार्य भी आगम युग की मान्यताओं के समर्थक प्रतीत होते हैं।

आगमिक धारणाओं के विपर्यास में, कुंद-कुंद अपने प्रवचनसार और नियमसार में वचनों एवं चित्तवृत्तियों का निरोध कर पूर्ण अन्तर्मुखी होने की प्रक्रिया को ध्यान मानते हैं। यह प्रतिक्रमण का सर्वोत्तम साधन है। जीवन-शोधक है। ध्यान से समवृत्तिता उत्पन्न होती है। यह योगकर्म के अभाव में ही सम्भव है। प्रवचनसार में दर्शन और ज्ञान के विकास की प्रक्रिया को ही ध्यान कहा गया है।

कुन्दकुन्द की परम्परा का अनुसरण करते हुए उमास्वाति ने जैन परम्परागत ध्यान की परिभाषा को सर्वाधिक स्पष्ट रूप से कहा है। उनके अनुसार, ध्यान संवर तत्व (सात में से पाँचवाँ, सम्—अच्छी वृत्तियों की ओर वर-गति करने की वृत्ति) के छह मुख्य घटकों के सत्तावन भेदों में तप नामक धर्म के अन्तरंग छह भेदों में अन्तिम प्रकार है : संवर→ तप→अन्तरंग तप→ध्यान। इनकी परिभाषा योगसूत्र के अति निकट आती है। उन्होंने 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानं' कहा है। अकलंक ने अन्तःकरण या चित्तवृत्ति को चिन्ता माना है, स्थिरीकरण या अवस्थान को निरोध माना है। अग्र शब्द से दिशा, पदार्थ, चैतन्य, आत्मा या लक्ष्य का ग्रहण किया है। इस प्रकार, चित्त की वृत्ति को एक दिशा, पदार्थ या आत्मा में स्थिरतापूर्वक अवस्थित करने की प्रक्रिया को ध्यान कहा जाता है। यहाँ 'अग्र' योग के देश शब्द का तथा बन्ध या 'एकतानता' को चिन्तानिरोध का समकक्ष मानना चाहिये। पूज्यपाद ने निश्चलरूप से अवभासमान ज्ञान को ध्यान कहा है। यह उमास्वामि के मत का फलितार्थ ही है। वस्तुतः सामान्य ज्ञान सदैव अनिश्चित होता है। इससे हम ज्ञान और ध्यान में अन्तर कर सकते हैं। समन्तमद्र भी ध्यान की अन्तर्मुखी परिभाषा को ही मान्यता देते हैं। रामसेन ने भी आत्मतत्त्व को षट्कारकमय मानकर ध्येय में स्थिर होने की वृत्ति को ध्यान कहा है। अभयदेव सूरि ने दृढ़ अध्यवसाय को ध्यान कहा है। शुभचन्द्र ध्यान को अन्तःकरण शोधक एवं विवेक जागृत करने वाला मानते हैं। लेकिन उन्होंने योग के अष्टांग को स्वीकृत करते हुए उसका विवरण दिया है। उनका अनुसरण हेमचन्द्र ने भी किया है। ध्यान को इस रूप में वर्णित करने की परम्परा वस्तुतः हरिभद्र ने प्रारम्भ की थी। इनके पूर्ववर्ती सिद्धसेन दिवाकर भी शरीर, प्राण एवं मन को सन्तुलित करने की क्रिया से प्राप्त एकाग्रता को ध्यान मानते हैं। परन्तु अकलंक प्राणापाननिरोध और उसके परिगणन को ध्यान का रूप नहीं मानते।

वस्तुतः यह सभी मानते हैं कि मन, बुद्धि, चित्त बड़ा चंचल और क्षण-क्षण परिवर्ती होता है। उसकी इस वृत्ति का कारण ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, परिवेश, सस्कार एवं भावनाएँ आदि हैं। यह परिवर्तिता व्यक्ति को अनेक प्रकार से प्रभावित करती है। यह उस सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है जहाँ यह माना जाता है कि एक द्रव्य दूसरे को प्रभावित नहीं करता। इससे उसकी आन्तरिक शक्ति का अव्यय होता है। इस परिवर्तिता को एकमुखी तथा स्थिरता प्रदान करने से न केवल ऊर्जा का अव्यय बचता है, अपितु वह संचित होकर अनेक लाभकारी परिणाम भी प्रकट करती है। चित्त की यह एकाग्रता आलम्बन या निरालम्बन ध्यान के अभ्यास से आती है।

जैन शास्त्रों में कालक्रम से वर्णित ध्यान की उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि आगमिक काल की ध्यान की शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक वृत्तियों की एकाग्रता की परिभाषा कुन्दकुन्द युग से लगभग पाँच सौ वर्ष तक मात्र मानसिक एकाग्रता की विचारधारा के रूप में चली। प्रायः ७-८वीं सदी में यह परिभाषा पुनः विस्तृत हुई और आगमिक मान्यता के अनुसार व्यापक बनी। यही परिभाषा अब प्रचलित है। इससे ध्यान के क्षेत्र की व्यापकता और लोकप्रियता में वृद्धि हुई है। फलतः अब हम ध्यान का शरीर, मन एवं चित्त की वृत्तियों के नियन्त्रण, स्थिरीकरण के प्रयत्नों के रूप में मान सकते हैं।

सामान्य जन के मन में ध्यान और उसकी प्रक्रिया की गूढ़ता ही बसी हुई है। फलतः वे इसे अपने बश की बात न मान कर इसे समझने का प्रयास ही नहीं करना चाहते। इसलिये भगवती आराधना और ज्ञानार्णव के आचार्यों ने ध्यान को सहज रूप में समझने के लिये अनेक उपमानों द्वारा उसका विवेचन किया है। ये सारणी २ में दिये गये हैं। इन उपमानों से ध्यान के उद्देश्य व साध्यों का अच्छा ज्ञान होता है और आध्यात्मिक विकास में उसकी महत्ता सिद्ध होती है। इन उपमानों के आधार पर ध्यान इन्द्रिय, कषाय, पाप, कर्म, मोह, राग आदि अशुभ प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण कर साम्यभाव प्राप्ति में सहायक होता है। यह व्यक्ति एवं उसके परिवेशी संसार को सुखमय बनाता है।

## सारणी २ : ध्यान के उपमान

उपमान	कार्य	संदर्भ
१. कोड़ा	इन्द्रिय कषाय धोड़ों पर नियन्त्रण	(i) भगवती आराधना गाथा ८४१-४३
२. शक्ति	इन्द्रिय-बाणों का वारण	गाथा १३९२, ९७
३. अग्नि	जीव-लौह शुद्ध होता है, कर्म-धृत जलता है, पाप-वन नष्ट होता है, कषाय शीत शांत होता है	गाथा १८८६-९६
४. वृक्ष	पाप वृक्ष को काटता है	(ii) समयसार : २३३
५. कवच	कषाय-योद्धा से रक्षा करता है	(iii) ज्ञानार्णव : १/२३, १३/३, ५, ६/२८।
६-७. आयुध, खड्ग	कषाय योद्धा/मोह शत्रु को नष्ट करता है	(iv) आत्मप्रबोध : ३९, ४९
८. सूर्य	रागादि अन्धकार को दूर करता है	
९. जहाज	संसार-सागर को पार करता है	
१०. अमृत	मोह निद्रा नाश, समत्व लक्ष्मी प्राप्ति	
११. यष्टि	कषाय-शत्रु से रक्षा	
१२. बल	कषाय सेना को जीतता है	
१३. छाया	कषाय धूप का शमन	
१४. सरोवर	कषाय-दाह का शमन	
१५. गर्भगृह	कषाय-वायु का अवरोध	
१६. औषधि	कषाय-रोग शमन	
१७. दुग्धपान	कषाय-रोग नाश	
१८. अन्न	विषय भूख का शमन	
१९. नौका	अविद्या नदी को पार करना	
२०. शीतल जलधारा	आत्मशांति लाता है।	

## ध्यान का विशिष्ट विवरण

ध्यान की परिभाषा के साथ ही, अनेक ग्रन्थों में उसका अनेक शीर्षकों के अन्तर्गत विस्तृत विवरण पाया जाता है। ध्यान का अधिकारी कौन है (ध्याता)? ध्यान का ध्येय (आलम्बन, लक्ष्य) क्या है? ध्यान के प्रकार (भेद) और प्रक्रिया क्या है? ध्यान का फल क्या है? ध्यान काल क्या है? इन प्रश्नों का उत्तर ही ध्याता, ध्यान, ध्येय, ध्यान-फल एवं काल शीर्षकों के अन्तर्गत दिया जाता है। कहीं-कहीं इन शीर्षकों की संख्या आठ तक दी गई है। हम अपना निरूपण पाँच शीर्षकों में करेंगे।

## (अ) ध्यान का अधिकारी, ध्याता : (१) प्रवृत्तियों का आधार

जैन शास्त्रों में ध्याता संबंधी चर्चा मनोवृत्ति, संहनन एवं गुणस्थानों के आधार पर की गई है। प्राचीन शास्त्रीय मान्यता के अनुसार, ध्यान वही कर सकता है जो मुमुक्षु हो, संयमी हो, जिसके शरीर के अस्थिबंध (संहनन) उत्तम हों, वासना से निर्लिप्त, जितेन्द्रिय, धीर और मनोवशो हो। संक्षेप में, जो शुभ प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख है, वह ध्यान कर सकता है। ऐसा माना जाता है कि आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से चौथे से चौदहवें चरण का व्यक्ति ध्यान का अधिकारी है। यह भी सामान्य धारणा है कि ऐसा विकास साधुचर्या से ही संभव है। अतः सामान्यतः साधुमार्गी ही

ध्यान के अधिकारी हैं। कुन्द-कुन्द ने कहा है कि योगी ही ध्यान कर सकते हैं। इसका कारण उनके आत्मिक विकास की क्षमता एवं कोटि ही है। शुभचन्द्र के अनुसार ध्याता उत्तम, मध्यम और जघन्य कोटि के हो सकते हैं।

सामान्यतः ध्याता को ज्ञानी भी होना चाहिये। प्राचीनकाल में दशपूर्वधरों एवं बीजबुद्धि धारकों को परम-ध्यानी माना जाता था। वर्तमानकाल में पाँच समिति व तीन गुप्ति वाले केवल तीसरे ध्यान के अधिकारी हैं।

सामान्य गृहस्थ, मिथ्यादृष्टि, अस्थिरमति मुनि, अठारह विक्रियाओं के अभ्यासी तथा कंदर्पी आदि पंच भावनाओं की मनोवृत्ति के लोग ध्यान के अधिकारी नहीं होते। यह तो पता नहीं कि आगमकाल की ईसापूर्व सदियों में ऐसे प्रतिबंध थे या नहीं, पर वर्तमान में इन प्रतिबंधों पर पुनर्विचार आवश्यक है। सभी कोटियों के व्यक्ति अनशन-आदि बाह्य तप तो करते ही हैं जो अन्तरंग तप एवं ध्यान के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं। वस्तुतः तप और ध्यान की प्रक्रिया उन लोगों के लिए आवश्यक प्रशिक्षण का कार्य करेगी जिनका चित्त एवं क्रियाएँ बहुमुखतः चलायमान रहती हैं। उन्हें ही संसार की दुःखमयता को वृत्ति को सुखमयता की ओर परिवर्तित करना है। वस्तुतः इस विषय में गृहस्थ की भर्त्सना अनुचित ही कही जायेगी। यह कथन धर्म और शुक्ल ध्यान की दृष्टि से मानने पर भी द्रव्य संग्रह में तो गृहस्थ को अपवादरूपेण धर्म ध्यान स्वीकृत किया ही गया है। फिर गृहस्थ तो साधुओं का पालक, रक्षक, संवर्धक और नियन्त्रक है। वही तो आगे चलकर साधु होने वाला है। आर्त-रौद्र ध्यानी गृहस्थ के लिए साधुओं के प्रति ये कर्तव्य कैसे सम्भव हैं? क्या वह साधुओं को समध्यानी नहीं बनायेगा जैसा आज हो रहा है। उमास्वामी ने सम्यक् दृष्टि, श्रावक एवं व्रती की निर्जरा का संकेत दिया है। यह निर्जरा बिना तप और ध्यान के कैसे होगी? यह माना जाता है कि अकाम निर्जरा सभी को हो सकती है, पर सकाम निर्जरा (कर्मक्षय हेतुक) साधु को ही होती है। अकाम निर्जरा के अन्तर्गत इहलौकिक, पारलौकिक, यश-कीर्ति प्रेरित उद्देश्यों से किये गये तप और ध्यान आते हैं। यह मिथ्या दृष्टि-सहित सभी को हो सकती है। अतः वह भी ध्यान का अधिकारी है। प्रेक्षाध्यान या योग की दृष्टि से तो आजकाल तप के विभिन्न रूपों के अभ्यास द्वारा अपराधियों की मनोवृत्तियों में परिवर्तन, बालकों में नैतिकता व सक्रियता का विकास, सेवा निवृत्ति, सामान्य या जीवन से निराश व्यक्तियों में जीवन के प्रति उत्साह एवं लक्ष्य के प्रति जागरूकता आती है। अतः उपरोक्त प्रतिबन्धों में किञ्चित् सुधार की आवश्यकता है। यह अवश्य है कि सभी लोग ध्यान के उच्चतर चरणों को अभ्यास से ही पा सकते हैं।

इस प्रतिबन्ध के विषय में यह कहा जा सकता है कि ये मात्र धर्म और शुक्ल ध्यान के क्षेत्र में लागू होते हैं, आर्त एवं रौद्र ध्यान पर नहीं। पर द्रव्य संग्रह के टीकाकार के समान ज्ञानार्णव के टीकाकार ने भी गृहस्थों के धर्म ध्यान उत्सर्गतः ही माना है। वस्तुतः ध्यान कोई भी हो, उसकी प्रक्रिया तो वही है। ये दोनों ध्यान ऐहिक उद्देश्यों के लिये किये जाते हैं। संभवतः इन ध्यानों के दुरुपयोग के कारण उपरोक्त प्रतिबन्ध लगाये गये हों। लेकिन इन प्रतिबन्धों से साधना मार्ग कुंठित हो गया और आज उसके पुनरुद्धार की आवश्यकता आ पड़ी है। इसीलिये शास्त्री ने उमास्वामी की ध्यान-परिभाषा के सूत्र की उपयुक्तता पर प्रश्न चिह्न लगाया है। इन प्रतिबन्धों के निराकरण से समाज, शायद, अधिक लाभान्वित हो सके।

## (ii) स्वस्थता या संहनन का आधार

यह सुज्ञात है कि ध्यान के लिये विशिष्ट आसन, समय तथा मनोवृत्ति की आवश्यकता होती है। आसन की स्थिर-सुखी परिभाषा के बावजूद भी सामान्य आसन ध्यान मुद्रा का प्रेरक नहीं। इसके लिये कुछ विशिष्ट आसन आवश्यक हैं। इन आसनों को विशिष्ट समय तक ग्रहण करने का अभ्यास चाहिये। यह अभ्यास केवल वे ही कर सकते हैं जिन्हें समुचित वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम है। इन आसनों के लिये शरीर स्वस्थ और बलवान् होना चाहिये। इसीलिये शास्त्रों में उसी को ध्यान का अधिकारी बताया गया है जिनके शरीर के अस्थिबन्ध, स्नायुबन्ध, एवं नाडीबन्ध

(संहनन) उत्तम हों। दिगम्बर आचार्यों के अनुसार, छह संहननों में से प्रथम तीन और श्वेताम्बर मतानुसार प्रथम चार उत्तम माने गये हैं। लेकिन चरम आध्यात्मिक विकास की दशा केवल असामान्य बलशाली शरीर से ही प्राप्त होती है। वर्तमान पञ्चम काल, छठा काल एवं भावी उत्सर्पिणी के छठे एवं पाँचवें काल में आत्मिक चरम विकास (निर्वाण) या अवनति (सप्तम नरक) की शास्त्रीय सम्भावना न होने से अगले ८०-८१ हजार वर्षों में ऐसा बली शरीर किसी को प्राप्त नहीं होगा।

सामान्य मनुष्य के संहनन पाँचवीं एवं छठी श्रेणी के होते हैं। आसन एवं प्राणायाम के अभ्यास से इनमें परिवर्तन संभव होता है क्योंकि इनसे शरीर की अन्तरंग ऊर्जा बढ़ जाती है। इससे वे चौथी या तीसरी संहनन काटि में पहुँचकर ध्यान के अधिकारी हो सकते हैं। संहनन की उत्तमता के मानदण्ड से यह स्पष्ट है कि दिगम्बर ध्यान की प्रक्रिया को अधिक कठोर मापते हैं। दूसरी ओर, यह भी स्पष्ट है कि श्वेताम्बर ध्यान की प्रक्रिया को अधिक व्यापक और प्रभावशाली बनाने की ओर अग्रसर रहे हैं।

### (iii) गुणस्थानों का आधार

संहनन की विशेषता के अतिरिक्त आत्मिक विकास के चरणों (गुणस्थानों) के आधार पर भी शास्त्रों में ध्याता को अभिलक्षणित किया गया है। इसे सारणी ३ में दिया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि तीसरे गुणस्थान तक

#### सारणी ३. ध्यान के अधिकारी गुणस्थान का आधार

ध्यान	गुणस्थान
१. आर्त ध्यान	४-६ गुणस्थान
२. रौद्र ध्यान	४-५ ,,
३. धर्म ध्यान	४-१२ ,,
४. शुक्ल ध्यान	१०-१४ ,,

व्यक्ति में ध्यान की क्षमता नहीं आती। यह मान्यता उपरोक्त चर्चा की दृष्टि से पुनर्विचारणीय प्रतीत होती है। कुमार कवि ने आरंभक, ध्याननिष्ठ एवं निष्पन्नयोगी के रूप में ध्याताओं की तीन कोटियाँ बताई हैं।

इस प्रकार ध्यान के अधिकारी ऐसे सभी सामान्य एवं साधु धर्मी व्यक्ति हो सकते हैं जिनका शरीर पुष्ट एवं बलवान् हो एवं जो राजसी एवं साश्विक वृत्तियों की ओर उन्मुख हों। शरीर की बलशालिता एवं मनोवृत्तियों की कोटि ध्यान की कोटि एवं योग्यता के मापदण्ड है। प्रेक्षा और समीक्षा ध्यान की पद्धति का विकास और प्रभाव इसी मान्यता पर आधारित है।

### (ब) ध्यान के प्रकार

भगवती, स्थानांग, तत्त्वार्थ सूत्र, ज्ञानार्णव और अन्य ध्यान-साहित्य में ध्यान के मुख्यतः चार भेद बताये गये हैं—(i) आर्त (ii) रौद्र (iii) धर्म या धर्म्य एवं (iv) शुक्ल। सभी उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसे माना है। फिर भी विवेचन की दृष्टि से ज्ञानार्णव में इन्हें तीन कोटियों में वर्गीकृत किया गया है :

(i) अप्रशस्त	:	आर्त, रौद्र	अशुभाशय, अशुभ लेश्या, पापबन्ध, दुर्गति।
(ii) प्रशस्त	:	धर्म्य, शुक्ल	पुण्याशय, शुभ लेश्या, पुण्यबन्ध, स्वर्ग।
(iii) शुद्ध	:	शुक्ल (अन्तिम पद)	आत्मोपलब्धि, स्वर्ग, मुक्ति।

अप्रशस्त ध्यान लौकिक तथा व्यक्तिगत रागद्वेष-प्रेरित होते हैं। अतः उन्हें हेय ही माना जाता है। प्रशस्त ध्यान शरीर एवं मन को शुद्ध कर साम्य, समरसता एवं अन्तर्मुखता उत्पन्न करते हैं, अतः वे उपादेय हैं। पूर्वोक्त शास्त्रीय मान्यता के परिप्रेक्ष्य में केवल धर्म ध्यान ही हमारे लिये, वर्तमान में, उपादेय बचता है।

ध्यान के भेदों के विषय में दिगो ने नमस्कार स्वाध्याय के आधार पर एक अणवाद बताया है। इसमें ध्यान के २४ भेद बताये गये हैं। ये ध्यान के सामान्य एवं परमभेद के रूप में शून्य, कला, ज्योति, विन्दु, नाद, तारा, लय, लव, मात्रा, पद, सिद्धि के रूप में चौबीस भेद हैं। वस्तुतः गाथा के अनुसार ये बार्दिस (११ X २) भेद ही होते हैं। इस गाथा से चौबीस भेद निर्धारित करने के लिये उसका मूल खोजना होगा। ध्यान के इन भेदों को वह मान्यता प्राप्त नहीं है, जो चार भेद की परम्परा को है। इन चारों ध्यानों का विवरण सारणी ४ में दिया गया है।

### सारणी ४—जैन शास्त्रों में ध्यान के भेदों का विवरण

नाम	प्रकार	लक्षण	आलंबन	अनुप्रेक्षा	गति	क्षेया	स्थिति
१. आतंस्थान	१. इष्ट वियोग	क्रंदन, चिन्ता,	—	—	तिर्यक्	अशुभ तीन	४-६ गुणस्थान
	२. अनिष्ट संयोग	दीनता, अश्रुपात,	—	—	तिर्यक्	अशुभ तीन	४-६ गुणस्थान
	३. वेदना, रोगचिन्ता	क्लेश चर्चा	—	—	तिर्यक्	अशुभ	४-५ गुणस्थान
	४. निदान, भोगार्त्त	आसन्न दोष,	—	—	तिर्यक्	अशुभ	४-५ गुणस्थान
२. रौद्र ध्यान	१. हिसानंद	बहुल दोष,	—	—	तिर्यक्	अशुभ	४-५ गुणस्थान
	२. मुपानंद	अज्ञान दोष,	—	—	तिर्यक्	अशुभ	४-५ गुणस्थान
	३. चौथानंद	आमरणांत दोष	—	—	तिर्यक्	अशुभ	४-५ गुणस्थान
	४. संरक्षणानंद	—	—	—	तिर्यक्	अशुभ	४-५ गुणस्थान
३. धर्म/धर्म्यंध्यान	१. आज्ञा विचय	(१) आज्ञा रचि निसर्ग रचि, उपदेश रचि, सूत्र रचि,	(१) पिंड, पद, रूप, रूपातीत	अनिरय, अशरण, मनुष्य, देव	पीत, पद्म, शुक्ल	४-१२ गुणस्थान	
	२. अपायविचय	(२) वाचना, पूजना, परिवर्तना, धर्मकथा, अनुप्रेक्षा, सामयिक	(२) आजंब, लघुता, मार्दव, उपदेश, संसार जिनागम रचि	अशरण, मनुष्य, देव	पीत, पद्म, शुक्ल	४-१२ गुणस्थान	
	३. विपाकविचय	—	—	—	—	—	—
	४. संस्थानविचय	—	—	—	—	—	—
४. शुक्ल ध्यान	१. सविचार पृथक्त्ववितर्क	विवेक, व्युत्सर्ग	क्षान्ति, क्षमा, मुक्ति,	अपाय, अशुभ, निर्वाण	मनुष्य, देव, तीन शुभ	१०-१३ गुणस्थान	
	२. अविचार पृथक्त्ववितर्क	व्युत्सर्ग	क्षान्ति, क्षमा, मुक्ति,	अपाय, अशुभ, निर्वाण	मनुष्य, देव, तीन शुभ	१०-१३ गुणस्थान	
	३. सूक्ष्मक्रिया प्रतिपत्ति	अव्यथा, असंमोह	आजंब, मार्दव, रूपतीत	अनंतवृत्तता त्रिपरिणाम	मनुष्य, देव, तीन शुभ	१३-१४, केवली	
	४. व्युत्सर्गक्रिया निवृत्ति	असंमोह	आजंब, मार्दव, रूपतीत	अनंतवृत्तता त्रिपरिणाम	मनुष्य, देव, तीन शुभ	१३-१४, केवली	
	५. व्युत्सर्गक्रिया निवृत्ति	असंमोह	आजंब, मार्दव, रूपतीत	अनंतवृत्तता त्रिपरिणाम	मनुष्य, देव, तीन शुभ	१३-१४, केवली	



इससे स्पष्ट है कि प्रशस्त ध्यानों की अपेक्षा अप्रशस्त ध्यानों के विषय में शास्त्रीय विवरण काफी कम है। सम्भवतः इनकी बहिर्मुखता ही इनकी अप्रशस्तता का कारण है। तत्त्वार्थ सूत्र में ५ सूत्रों में आतं ध्यान, एक सूत्र में रौद्र-ध्यान, दो सूत्रों में धर्म-ध्यान तथा सात सूत्रों में शुक्ल-ध्यान का विवरण मिलता है। इसमें उनके भेद, परिभाषा तथा अधिकारी बताये गये हैं। ज्ञानार्णव में, अवश्य, इन पर स्वतन्त्र अध्याय दिये गये हैं। ये मानव को उत्तरोत्तर आध्यात्मिक प्रगति को निरूपित करते हैं। इस विवरण की एक विचार योग्य विशेषता यह है कि जहाँ आतं ध्यान के अधिकारी ४-६ गुणस्थानी होते हैं, वहीं रौद्र-ध्यान के अधिकारी ४-५ गुणस्थानी ही होते हैं। चतुर्भेदी आतं ध्यान नितान्त व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति या पीड़ा को दूर करने के लिये होता है। इसमें कषाय, दुःख व प्रमाद अधिक होता है। इसके विपर्यास में, चतुर्भेदी रौद्र-ध्यान में कुटिलता, पापाचार एवं क्रूरकर्म सम्भावित हैं। रौद्रता क्रोध, उत्तेजना एवं आवेश का प्रतीक है। यह व्यक्तिगत भी हो सकता है और व्यक्ति भिन्न भी हो सकता है। इसे भी ४-६ गुणस्थानी माना जाना चाहिए, पर पूज्यपाद और अकलंक ने व्याख्या दी है कि संयमी (चाहे वह प्रमत्त ही क्यों न हो) के रुद्रता नहीं हो सकती। इस स्थिति में मुझे लगता है कि गुणस्थान के आधार पर रौद्र-ध्यान को प्रथम ध्यान मानना चाहिए। दिगे ने इस चर्चा पर मौन रखा है।

धर्म ध्यान आन्तरिक विकास की प्रथम सराहनीय सीढ़ी है। इसमें ध्यान की प्रक्रिया पूर्व ध्यानों के अनुसार होती है, पर इसमें एकाग्रता के लक्ष्य, ध्येय भिन्न होते हैं। इसके आलम्बन सात्त्विक होते हैं। इनके विवरण सारणी ४ में दिये गये हैं। इस ध्यान में गुरुवाणी में श्रद्धा, कुत्सित विचारों या अवस्थाओं के नाश के प्रति व्यग्रता, अशुभ प्रवृत्तियों या कर्मों के प्रति निरुद्धता और संसार के विशिष्ट आकारों के प्रति विचारणा की वृत्ति जागृत होती है। धर्म-ध्यानी में मैत्री, करुणा, मुदितता व उपेक्षाभाव की मनोवृत्ति का जागरण आवश्यक है। इसमें अन्दर-बाहर की प्रेक्षाएँ की जाती हैं। इसमें पिण्ड (शरीर), पद (अक्षर), रूप एवं रूपातीत ध्येयों पर मन को स्थिर करने का अभ्यास किया जाता है। इससे आत्म-शक्ति का संकेन्द्रण होता है। वर्तमान में भावों की शुद्धि के लिये प्रचलित लेश्या, रंग या वर्ण-संकेन्द्रित ध्यान की प्रक्रिया रूपात्मक ध्यान के अन्तर्गत ही माननी चाहिए। शास्त्रों में इस प्रक्रिया का विशेष विवरण नहीं है। इस ध्यान में क्रमशः स्थूल ध्येयों से सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर ध्येयों पर एकाग्रता का अभ्यास करने से व्यक्ति अन्तर्मुखी होकर आनन्दानुभूति करने लगता है। यह ध्यान शुभ होता है, शुभतर शुक्ल ध्यान की ओर प्रेरित करता है।

शुक्ल ध्यान आन्तरिक शुद्धि एवं निर्मलता का प्रतीक है। यह नितान्त अन्तर्मुखी और आन्तरिक प्रक्रिया है। यह अन्तःशक्ति के अनन्त-रूप का दर्शन कराता है और साधना के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने की अन्तिम सीढ़ी है। इसके अन्तर्गत मन, वचन व शरीर की सभी वृत्तियाँ निरुद्ध होकर रूपातीत ध्येय पर एकाग्रता उत्पन्न होती है। इससे अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य की अनायास उपलब्धि होती है। इसके ध्येय के रूप में धर्म के विविध रूपों की निराकार वृत्तियाँ होती हैं। यह ध्यान श्रेष्ठतम बलशाली शरीर तथा ज्ञान के धनी ही कर सकते हैं। यह प्रायः निरालम्बन होता है। इसके चार भेदों में से दो का अभ्यास छद्मस्थ ज्ञानी (१२वें गुणस्थान तक) भी कर सकते हैं, पर अन्तिम दो भेदों का अभ्यास केवली ही कर सकते हैं। इसमें वितर्क और वीचार (विचारणा और अक्षर ध्यान)—दोनों क्रमशः समाप्त हो जाते हैं और अन्त में सभी प्रकार की क्रियाओं से मुक्ति होकर चरम सुख की अनुभूति होती है।

शुक्ल ध्यान के समान धर्म-ध्यान के भी चार भेद माने गये हैं। इन्हें विस्तृत कर दस भी माना जाता है। इन्हें संक्षिप्त करने पर बाह्य और आध्यात्मिक अथवा व्यवहार और निश्चय के रूप में दो भेद माने जाते हैं। परावलम्बी, शरीर एवं वचन की क्रियाएँ बाह्य एवं व्यावहारिक होती हैं और मानसिक चिन्तन या एकाग्रता आध्यात्मिक या निश्चय-मुखी होती हैं। इस ध्यान की सिद्धि के लिये गुरु-उपदेश, श्रद्धा, अभ्यास तथा मन की स्थिरता अत्यन्त आवश्यक है।

**(स) ध्यान की प्रक्रिया**

ध्यान की विविध प्रक्रियाओं के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में स्फुट उल्लेख ही मिलते हैं। सम्भवतः उनका समन्वयात्मक निरूपण ज्ञानार्णव में हुआ है। इसमें बताया गया है कि ध्यान के लिए उपयुक्त स्थान, आसन, प्राणायाम तथा ध्यानविधि का ज्ञान आवश्यक है।

**उपयुक्त स्थान :** सामान्यतः यह माना जाता है कि सिद्ध योगी को साधना के लिये कोई भी स्थान उपयुक्त है। पर सामान्य अभ्यासी के लिये पवित्र और एकान्त स्थान आवश्यक है। यह सिद्ध क्षेत्र, अतिशय क्षेत्र, नदी-समुद्र तट, नदी-संगम, पर्वत, गुफा, वृक्ष कोटर, भू-गर्भ, मन्दिर, शून्य-गृह, केलावृक्षों से निर्मित गृह, उपवन-वेदिका, चैत्यवृक्ष के समान कोलाहल-विहीन एवं मनोमोदी कोई भी स्थान हो सकता है। समुचित स्थान पर, लकड़ी के पट्टिये पर, शिलापट पर, बालुका पर्वत पर विशिष्ट आसन ग्रहण कर ध्यान किया जाता है।

**ध्यान के लिए आसन :** ध्यान के लिए आसन का चुनाव भी महत्वपूर्ण है। स्थिरसुखी आसन की परिभाषा के बावजूद भी जिन आसनों की शास्त्रों में चर्चा है, उनमें अभ्यास के बाद ही सुख मिलता है। आगम तथा अन्य ग्रन्थों में प्रायः १९ आसनों का उल्लेख है : उकड़ूँ या गोदोहासन, बज्रासन, वीरासन, पत्यंकासन, अर्धपत्यंकासन, कायोत्सर्गासन, मकरासन, हस्तिशुंडासन, दंडासन, संकोच-शरीरासन, शवासन, गवासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, आम्रकुब्जासन, क्रींचासन, हंसासन, गजासन। यद्यपि जैन परम्परा में ध्यान हेतु विशेष आसन का नियम नहीं है, फिर भी, ज्ञानार्णव में बताया गया है कि कलिकाल में इनमें से केवल दो आसन ही महत्वपूर्ण हैं : पत्यंकासन या पद्मासन एवं कायोत्सर्गासन या खड्गासन। इनमें अन्य आसनों को तुलना में शक्ति कम लगती है। ये सरल होते हैं और मन को स्थिर करने में सहायक होते हैं।

ध्यान के लिये आसन लगाते समय मुख पूर्व या उत्तर की ओर होना चाहिये। दृष्टि नासाग्रमुखी होना चाहिये। शरीर के अन्य अंग निश्चल एवं स्थिर रहने चाहिये।

शुभचन्द्र ने बताया है कि आसन के समुचित अभ्यास न होने से (i) शरीर स्थिर नहीं रह पाता (ii) शरीर की अस्थिरता से मन स्थिर नहीं किया जा सकता (iii) शरीर और मन की अस्थिरता से समाधिदशा सहज नहीं हो पाती एवं (iv) समुचित परीषह सहता विकसित नहीं हो पाती। इसके विपर्यास में, पद्मासन से स्थिरता, प्रसन्नता, शान्ति एवं स्पंदनरहितता आती है। इससे अन्तःशक्ति और विवेक जागृत होते हैं। आज की शारीरिक शिक्षा में जो अनेक प्रकार के व्यायाम कराये जाते हैं, वे केवल शरीर को शुद्ध कर पुष्ट एवं बलशाली बनाते हैं। पर आसन न केवल शरीर को, अपितु मन को भी बली बनाते हैं। अतः आसनों का प्रभाव मनोदैहिक एवं काय-मानसिक-दोनों प्रकार का होता है। ये ही ध्यानमुद्रा को प्रेरित करते हैं।

**ध्यान के लिए प्राणायाम :** मन बड़ा चंचल है। उसमें हाथी के समान बल, दैत्य के समान पीड़ाकारी वृत्ति, बन्दर के समान चंचलता और सर्प के समान दंशन-वृत्ति होती है। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ उसकी प्रमुख सहायक हैं। हेमचन्द्र के अनुसार, यह विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और तुलीन नामक चार वृत्तियों को धारण करता है। यह व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण का राजा है। उसे समुचित रूप से नियन्त्रित करने के लिए आसन के साथ प्राणायाम-अभ्यास भी आवश्यक है। यह सामान्यतः श्वासोच्छ्वास के अन्तर्गमन, बहिर्गमन एवं अन्तःस्थापन के नियन्त्रण की प्रक्रिया है। प्रारम्भ में शुभचन्द्र ने अन्तःकरण की शुद्धि तथा ध्यान-ज्ञान की सफलता के लिये इसे अनुशंसित किया है। पर हेमचन्द्र को इसमें श्रम एवं चित्त-संकलेशभाव प्रतीत हुआ, अतः ध्यान-साधना में इसे विरोधी कहा है। बाद में, शुभचन्द्र ने भी प्रत्याहार की अनुशंसा करते हुए ध्यान के लिये इसकी हीनता बताई है। उनका यह मत तर्कसंगत नहीं लगता क्योंकि दीर्घ या

मन्द श्वासोच्छ्वास तथा उसके अल्पकालिक अन्तःस्थापन से शरीरतन्त्र के आन्तरिक घटकों एवं प्रक्रमों में सजगता, अप्रमाद, पूर्णता एवं शक्तिसम्पन्नता आती है। यह नीरागता भी प्रदान करता है। अतः यह ध्यान के लिए उत्प्रेरक है। प्राणायाम से शरीर का अन्तर्ज्ञान भी होता है। इससे यह भी पता चलता है कि नासिका रंध्र में पार्थिव, वायु, वायवीय एवं आग्नेय नामक सूक्ष्म एवं संवेद्य चार मंडल होते हैं। इन मण्डलों में पुरन्दर, वरुण, पवन, व ज्वलन वायु संचारित होती है। शुभचन्द्र ने इस विषय में विस्तृत विवरण दिया है। प्रेक्षा ध्यान पद्धति में भी प्राणायाम को श्वास एवं शरीर प्रेक्षा के रूप में स्वीकृत किया गया है।

पतञ्जल का अनुसरण करते हुए शुभचन्द्र ने प्राणायाम के पूरक, रेचक एवं कुंभक (अन्तःस्थापन)—तीन भेद किए हैं। वहाँ परमेश्वर नामक एक अन्य भेद भी वर्णित है जो ब्रह्मरंध्र में विश्रान्त होता है। हेमचन्द्र ने प्रत्याहार, शांत, उत्तर और अधर के रूप में चार भेद किये हैं। इनमें प्रायः श्वास को अर्न्तग्रहण कर उसे शरीर यन्त्र में भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में ले जाना एवं उसके बहिर्गमन के समय का नियन्त्रण करना समाहित है।

यह कहा जाता है कि ६० घड़ी के दिन-रात में श्वास वायु सोलह बार नासिका छिद्र बदलती है अर्थात् एक छिद्र से एक बार में एक घण्टे वायु अन्तर्गमित होती है। इसी प्रकार, एक मिनट में प्रायः पन्द्रह बार श्वासोच्छ्वास चलता है।

प्राणायाम के अभ्यास से ध्यान की दिशा में आगे बढ़ने के लिये बहिर्दृष्टि त्यागनी पड़ती है। इससे ही अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है। इस अन्तर्मुखी वृत्ति को जगाने का उपाय है—प्रत्याहार और धारणा। इस प्रक्रिया में साधक मन और इन्द्रिय-विषयों के सम्बन्ध को तोड़ने का प्रयत्न करता है। इसके लिये वह इच्छानुसार आलम्बनों पर, ध्येयों पर मन को स्थिर करता है। जब यह स्थिरीकरण ४८ मिनट तक बना रहता है, तब उसे ध्यान की परिपूर्णता का चरण माना जाता है। यही समाधि की स्थिति मानी जाती है। इस स्थिति में मन की चंचलता दूर हो जाती है, वह एकतान होकर शक्ति-केन्द्र बन जाता है। इससे व्यक्ति में सात्विक गुण प्रस्फुटित होने लगते हैं।

### (द) ध्यान के ध्येय या आलम्बन

ध्यान का ध्येय वह आधार या वस्तु है, जिस पर चित्त को एकाग्र किया जाता है। यह ध्येय दो प्रकार का है—सरूपी और रूपातीत, सचेतन या अचेतन। इस आधार पर ध्यान भी दो प्रकार का होता है। सरूपी पदार्थ मूर्त और दृश्य होते हैं, स्थूल और सूक्ष्म होते हैं, ये बहिर्जगत के भी हो सकते हैं, अन्तर्जगत के भी हो सकते हैं। ध्यान की कोटि के विकास के साथ ये ध्येय क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म होते जाते हैं, जब तक रूपातीत या निरालम्बन ध्यान की स्थिति न आवे एवं ज्ञाननेत्र पूर्णतः उद्घाटित न हो पावे। निरालम्बन ध्यान में परम आत्मा का ही ध्यान किया जाता है।

ये ध्येय शुभ और अशुभ परिणामों के कारण होते हैं। ये शब्द, अर्थ एवं ज्ञानात्मक होते हैं। ये नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव के रूप से चार प्रकार के होते हैं। धर्म ध्यान के चार भेद भी ध्येय के ही रूप हैं। शुभचन्द्र ने सालम्बन ध्यान के लिये शरीर तन्त्र के दस अवयवों—ललाट, नेत्र, कर्ण, नासिकाग्र; मस्तक, मुख, नाभि, हृदय, तालु एवं भ्रुकुटि का नामोल्लेख किया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से, शरीर तन्त्र तो बहिर्जगत ही है, फिर भी इससे भिन्न एवं पृथक् स्थूल ध्येयों पर भी मन केन्द्रित किया जा सकता है। यह कोई भी इच्छित या अनिच्छित वस्तु हो सकती है। जिन-मूर्ति, गुरु-मूर्ति, संस्कारित स्त्री या पुरुष, सात्विक चित्र, प्राकृतिक दृश्य, पशु-पक्षी, पवित्र पर्वत, लोकाकृति आदि पर भी ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है। वस्तुओं के अतिरिक्त, गुणों पर भी केन्द्रण हो सकता है।

शास्त्रों में आर्त एवं रौद्र ध्यानों के आलम्बनों का उल्लेख नहीं है, पर उनके भेदों के आधार पर ही उनके विविध आलम्बनों का अनुमान लगाया जा सकता है। धर्म-ध्यान के आलम्बनों में आज्ञा, निसर्ग, सूत्र और अवगाह रूचियों

के अनुसार वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा, धर्म-कथा, सामायिक एवं सद्धर्मत्व समाहित होते हैं। इनसे अन्तर्मुखी दृष्टि जागृत होती है। ज्ञानार्णव में चार अपूर्व ध्येय भी बताये गये हैं—पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत। इनका विस्तृत वर्णन भी है। इनमें शरीर, वर्ण (मंत्र, मुद्रा, मंडल आदि), आत्मा, जिन, मुक्ति, सिद्ध के लौकिक-अलौकिक रूपों का ध्यान समाहित है। इनके माध्यम से आत्मतत्व या अन्तर्मुखी ध्येय ही ध्यान के विषय होते हैं। इन पर चित्त को स्थिर करने से समदृष्टि, आनन्दमयता एवं अन्तःशक्ति सम्पन्नता आती है, जो हमारे शरीर के चारों ओर विद्यमान आभा-मण्डल को परिवर्तित कर जीवन को सुखमय बनाती है।

### (य) ध्यान का फल

ध्यान के अभ्यास से व्यक्ति स्वयं में अव्यक्त रूप से विद्यमान अनेक सात्विक गुणों का विकास करता है। कुछ ही समय के अभ्यास से यह अनुभव होने लगता है कि व्यक्ति में परमात्मा के समान ही शक्ति का विशाल भंडार है। यह शक्ति ही सुखानुभूति कराती है। यह अन्तःशक्ति है। इसके कारण ही व्यक्ति में अनेक प्रकार के लौकिक/अलौकिक कार्य करने की क्षमता आती है। यह शक्ति ही उसमें विरागता, समदृष्टि, अशुभ प्रवृत्तियों की उपेक्षा आदि मानव-जाति के नैतिक दृष्टि से बढ़ाने वाले गुणों की प्रतीक है। सैद्धान्तिक दृष्टि से ध्यान पूर्वकृत कर्मों को नष्ट कर व्यक्ति को अकर्मता की ओर ले जाता है और उसे संसार को सुन्दरतम बनाने की ओर प्रेरित करता है। वस्तुतः ध्यान व्यक्ति को समष्टि में विलीन करता है और मुक्तिमार्ग प्रशस्त करता है। ध्यान से नियमित शरीर, स्थिर नेत्र, शुद्ध अन्तःकरण, निर्मोहता एवं तेजस्विता प्राप्त होती है। ये सभी गुण उत्कृष्ट आनन्द के साधन हैं। मन्त्र एवं वर्णों के ध्यान से रोग-विजय एवं वचन-माहात्म्य प्रकट होता है।

### (र) ध्यान की कालावधि

जैन शास्त्रों में ध्यान का उत्तम काल एक अन्तर्मुहूर्त या ४८ मिनट बताया गया है। साधारण छद्मस्थ एक ध्येय पर इससे अधिक समय तक ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकते। यदि वे ऐसा करते हैं, तो या तो ध्येय रूपान्तरित हो जावेगा या ध्यानान्तर हो जावेगा। इससे इन्द्रियों का उपघात भी सम्भव है। योग-दर्शन में ध्यानाभ्यास के लिये इस प्रकार की कोई कालावधि नहीं है। फिर भी, सत्यानन्द सरस्वती गृहस्थों के लिये १० मिनट का न्यूनतम ध्यान-समय मानते हैं। वस्तुतः यह समय-सीमा ध्यानाभ्यास की कोटि एवं ध्याता की श्रेणी पर निर्भर करती है।

### विभिन्न पद्धतियों में ध्यान का तुलनात्मक निरूपण

प्रायः सभी भारतीय पद्धतियों में ध्यान के द्वारा अन्तर्मुखी विकास माना गया है। प्राचीन ग्रन्थों (वेद, गीता, उपनिषद्, ब्रह्म सूत्र, विमुक्ति मग्गो, भगवती आदि) में इस सम्बन्ध में स्फुट विवरण प्राप्त होते हैं। धीरे-धीरे इस पद्धति का पूर्ण विकास हुआ और उत्तरवर्ती समय में ध्यान पर विशिष्ट ग्रन्थ लिखे गये। इनसे पता चलता है कि जैन और बौद्ध पद्धतियाँ योग-दर्शन से पर्याप्त प्रभावित हुई हैं। उन्होंने कालान्तर में याग के अष्टांगां को किसी-न-किसी रूप में समाहित तो किया ही है, उसके पारिभाषिक शब्दों को भी स्वीकार किया है। सारणी ५ में इन तीनों परम्पराओं की मुख्य मान्यताओं का तुलनात्मक संक्षेपण किया गया है। इससे स्पष्ट है कि जैन पद्धति की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं, जो अन्य पद्धतियों में निरूपित नहीं हैं, यद्यपि वे आनुषंगिकतः मान्य होनी चाहिए :

(i) ध्यान शुभ और अशुभ—दोनों प्रकार के हो सकते हैं। अन्य पद्धतियों में ध्यान का अर्थ शुभरूप में ही लिया जाता है।

## सारणी ५ : विभिन्न पद्धतियों में ध्यान

योग दर्शन	जैन दर्शन	बौद्ध दर्शन	
१. सामान्य नाम	(i) योग (ii) ध्यान	(i) संवर, योग ध्यान	(i) खमाधि, ध्यान विपश्यना
२. घटकता	अष्टांग योग का सातवाँ घटक	सत्तावन प्रकार के संवर के अन्तरंग तप का घटक	अष्टांगमार्गका ७-८वाँ घटक
४. भेद निरूपण एवं समकक्षता	१. यम ५ अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह २. नियम ५ शौच संतोष तप स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधान ३. आसन ४. प्राणायाम ५. प्रत्याहार ६. धारणा ७. ध्यान ८. समाधि (सवीज, निर्वीज)	१. यम १० उत्तम क्षमा, मृदुता, ऋजुता, शौच उत्तम सत्य उत्तम संयम, तप, त्याग उत्तम ब्रह्मचर्य उत्तम अकिंचनता धर्म का चौथा अंग धर्म का चौथा अंग धर्म का सातवाँ अंग-१२ अंतरंग तप का चौथा रूप — कायक्लेश, तप का छठा अंग कायोत्सर्ग तीन गुप्ति, पाँच समिति, ८ ध्यान का रूप ध्यान के ४ भेद ध्यान फल, शुक्ल ध्यान (अवितर्क, सविचार आदि ४ भेद) परीषह जय २२ अनुप्रेक्षा १२ सम्यक् चारित्र ५	सम्यक् दृष्टि, संकल्प सम्यक् वचन सम्यक् कर्म सम्यक् व्यायाम, कर्म सम्यक् जीविका सम्यक् कर्म सम्यक् कर्म सम्यक् कर्म — — — सम्यक् कर्म, सम्यक् स्मृति समाधि, बोधि (स-उपाधि, अनुपाधि) सम्यक् प्रयत्न सम्यक् विचार सम्यक् कर्म
५. ध्याता	सभी व्यक्ति	व्यक्तियों के शरीर, मनोवृत्ति एवं क्षमता पर निर्भर	सभी व्यक्ति
६. ध्येय, आलम्बन	रूपी, रूपातीत	सरूपी, रूपातीत, आंतर, बाह्य	रूपी, रूपातीत
७. कालावधि	अनिर्दिष्ट	गृहस्थों के लिये ४८ मिनट	—
८. ध्यान फल	समाधि, चरम आत्मिकविकास	चरम सुख, विकास	बोधि प्राप्ति

(ii) बुद्ध और पतंजल की तुलना में, जैन ध्यान प्रक्रिया का अभ्यास अधिक कठोर प्रतीत होता है। परीषह-सहन, बारह भावनाओं का अभ्यास, कठिन चारित्र्य, मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों के नियंत्रण का प्रारम्भ से ही अभ्यास तथा अन्य बातें अन्य पद्धतियों में उतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं।

(iii) अन्य पद्धतियों की तुलना में जैनों के ध्यान-वर्गीकरण की पद्धति अधिक सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण है। यही कारण है कि अष्टांग योग ने सत्तावनी संवर का रूप ले लिया।

(iv) जैन ध्यान पद्धति (प्रशस्त) विश्लेषणात्मक अधिक है। यह बुद्ध की विपर्ययना पद्धति से अधिक संगति रखती है।

(v) जैन ध्यान पद्धति आन्तरिक विकास के विभिन्न चरणों पर आधारित है। अन्य पद्धतियों में इन चरणों का कोई संकेत नहीं है।

(vi) आध्यात्मिक दृष्टि से, जैन ध्यान पद्धति कर्मवाद की धारणा पर आधारित है। जैसे-जैसे ध्यान की कोटि उग्र, तीक्ष्ण या सूक्ष्मतर होती जाती है, वैसे ही कर्म-बंध क्षीण होते जाते हैं। इससे शैलेशी तथा अकर्मता की स्थिति प्राप्त होती है। अन्य पद्धतियों में यह आधार भी नहीं है।

### ध्यान : लौकिक और अलौकिक सिद्धियाँ

ध्यान की अनेक चरणी प्रक्रिया को अपनाने वाले साधकों का अनुभव है कि जैसे ही वे आसन और प्राणायाम को साध लेते हैं, उन्हें अपने अन्दर असीम शक्ति-सम्पन्नता का अनुभव होता है। ध्येय के प्रति चित्त की स्थिरता के अभ्यास के समय अनेक ऐसी स्थितियाँ आती हैं, जो ध्यान से विचलित करने वाली होती हैं। इन स्थितियों से पार पाकर जब साधक स्थिर ध्यानी हो जाता है, तो उसकी अन्तःशक्ति की वृद्धि से साधक में अनेक लक्षण प्रकट होते हैं, जो असामान्य या अति-मानवीय प्रतीत होते हैं। ये लक्षण ही लब्धि, सिद्धि, ऋद्धि या विभूति कहलाते हैं। ये ध्यान से संचित अन्तःशक्ति के व्यक्त प्रकटन मात्र हैं, जो उसके माहात्म्य को प्रकट करते हैं। आतिशी शीशे से सूर्य-किरणों की ऊर्जा के कागज पर संकेन्द्रण से जैसे कागज जल जाता है, उसी प्रकार इस आत्मिक शक्ति के विभिन्न उद्देश्यों हेतु संकेन्द्रण करने पर अनेक अनुरूपी प्रभाव उत्पन्न होते हैं।

योग और ध्यान की सभी पद्धतियों में साधक के ऐसे अनेक लक्षणों का उल्लेख है। जैन शास्त्रों में भी इन लक्षणों की विविधता एवं वर्गीकरण पाया जाता है। इसीलिये जहाँ भगवती सूत्र में केवल दस लब्धियाँ (ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, इन्द्रिय और चारित्र्या-चारित्र्य) बताई गई हैं, वहीं त्रिलोक प्रज्ञति में आठ कोटि की ६४ लब्धियाँ बताई गई हैं। विद्यानुवाद तो ४८ लब्धियों का ही निरूपण करता है। इनका वर्णन धवला भाग ४ (४४), मंत्रराज रहस्य (५०), आवश्यक निर्युक्ति (२८) तथा प्रवचनसारोद्धार (२८) में भी है। भगवती आराधना में भी इनका कुछ वर्णन है। ज्ञानार्णव में वायुजय से परकाया प्रवेश के साथ मंत्र-जप-ध्यान से अतीन्द्रिय ज्ञान, विक्रिया लब्धि, ज्योतिर्मयता, देववशित्व, श्रुतज्ञता, बोधिज्ञान आदि लब्धियों का उल्लेख है। इन सभी ऋद्धियों के विषय में जैनों की यही मान्यता है कि "ते समाधौ उपसर्गाः, व्युत्थाने सिद्धयः।" अतः आत्मिक विकास की दृष्टि से ये ध्यान के आनुषंगिक फल हैं, मुख्य नहीं। ये फल माहात्म्य की दृष्टि से एवं कुतूहल की दृष्टि से प्रकट किये जाते हैं। यह ठीक उसी प्रकार समझना चाहिये जैसे गेहूँ की मुख्य फसल के साथ आनुषंगिक रूप से प्याल भी मिलता है। प्याल के समान सिद्धियाँ भी ऐहिक जीवन के लिये उपयोगी हैं। इनसे यह पता चलता है कि ध्यान ठीक दिशा में चल रहा है। जैन शास्त्र यह मानते हैं कि उत्तम ध्यानावस्था हेतु ये सिद्धियाँ उपेक्षणीय हैं। इसीलिये सिद्धि मात्र के लिये किया जाने वाला ध्यान, सैद्धान्तिक दृष्टि से दुर्ध्यान कहा जाता है।

त्रिलोक प्रज्ञप्ति में ध्यान से प्राप्त होने वाली आठ कोटि की ६४ लब्धियों का संक्षेपण निम्न है :

१. बुद्धि/ज्ञान लब्धि	१८	अवधि ज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान, केवल ज्ञान, दश-वतुदश पूर्वित्व, बीज बुद्धि, कोष्ठ बुद्धि, पदानुसारिणी (प्रतिसारणी व उभय सारणी) बुद्धि, संभिन्न श्रोतृत्व, दूरास्वादित्व, दूरस्पर्शित्व, दूरदर्शित्व, दूर-श्रवणत्व, दूरघ्राणत्व, निमित्त (नभ निमित्त, भौम निमित्त, अंग विद्या—स्वर, व्यंजन, लक्षण, चिह्न, स्वप्न विद्यार्ये), प्रज्ञाश्रमण, प्रत्येक बुद्धि, वाद विद्या ।
२. विक्रिया लब्धि	१०	अणिमा, महिमा, गरिमा, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्ध्यान, कामरूपित्व, लधिमा ।
३. क्रिया लब्धि	१० + ३	आकाश गामिनी क्रिया, जल-वायु-मेघ-ज्योति आदि चारण क्रियार्ये (१२) ।
४. तप लब्धि	७	उग्र, दीप्त, तप्त, महा, घोर, घोर पराक्रम, अघोर ब्रह्मचारित्व ।
५. बल लब्धि	३	मनोबल, वचन बल, कायबल ।
६. क्षेत्र लब्धि	२	अक्षीण महानसिक, अक्षीण महालय ।
७. रस लब्धि	६	आशी विष, दृष्टि विष, क्षीरस्रवो, मधुस्रवो, अमृतस्रवो, सपिस्रवो ।
८. औषध लब्धि	८	आमर्श, क्षेप, जल्ल, मल, विडोषधि, सर्वोषधि, मुखनिविष, दृष्टिनिविष ।
	६४	

अन्य ग्रन्थों में इन्हीं कोटियों का संक्षेपण या विस्तार मात्र है। योग दर्शन में भी विभिन्न प्राणायामों एवं संयमों से अनेक लब्धियों का उल्लेख है। पर जैनों के विवरण की तुलना में यह बहुत कम है। फिर भी, संक्षेप में वहाँ सिद्धियों के पाँच स्रोत बताये गये हैं—जन्म (संस्कार), औषध, मन्त्र, तप और समाधि। बौद्धों ने भी लौकिक-लोकोत्तर लब्धियों के कुछ नाम दिये हैं।

### उपसंहार

ध्यान-सम्बन्धी शास्त्रीय विवरण के तुलनात्मक संक्षेपण से यह स्पष्ट है कि जहाँ आगमकाल में यह शारीरिक एवं मानसिक तत्त्वों को प्रभावित करनेवाला माना जाता था, वहीं ईसोत्तर सदियों में यह केवल मानसिक एवं आत्म-परक हो गया। समय के प्रभाव से इस विवरण में योग के तत्व पुनः समाहित हुए जिससे यह पुनः त्रिरूपात्मक हो गया। इससे इसकी व्यापकता बढ़ी है। यद्यपि सभी पद्धतियाँ ध्यान का चरम लक्ष्य एक ही मानती हैं, पर इह-जावन से सम्बन्धित लक्ष्यों में विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं में विविधता पाई जाती है।

ध्यान के शारीरिक एवं मानसिक प्रभावों के विषय में आचार्यों ने अनेक अनुभव और निरीक्षण व्यक्त किये हैं। इन पर अब भारत और विश्व के अनेक देशों में वैज्ञानिक शोध की जा रहा है। यह प्रसन्नता की बात है कि अधिकांश लौकिक शास्त्रीय विवरण इस पद्धति से न केवल पुष्ट ही हुए हैं अपितु शरीर विज्ञान, रसायन, मनोविज्ञान एवं चिकित्सा विज्ञान के अध्येताओं ने इन विवरणों की अपने निरीक्षणों द्वारा सफल एवं प्रयोगसिद्ध व्याख्या की है। यही नहीं, अनेक निरीक्षणों से हमारे ध्यान-सम्बन्धी प्रक्रियाओं के ज्ञान में और भी तीक्ष्णता, यथार्थता और सूक्ष्मता आई है। यही कारण है कि इस युग में योग और ध्यान की प्रक्रिया हेतु अधिकारियों पर लगे प्रतिबन्ध शनैः शनैः स्वयं समाप्त होते जा रहे हैं और यह प्रत्येक व्यक्ति के दैनंदिन जीवन का एक अंग बनता जा रहा है। इससे ध्यान के कुछ अलौकिक प्रभावों पर भी आस्था बढ़ रही है।

## निर्देश ग्रन्थ

१. टाटिया, डा० नथमल : जैन मेटेड्रीशन, चित्त समाधि, जैन विश्वभारती, लाडनू, १९८६
२. दिग्गे, डा० ए० बी० : जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन, पा० वि०, काशी, १९८१
३. क्षु० जैनेन्द्र वर्णी : जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष-२, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९८६
४. आचार्य, यतिवृषभ : त्रिलोक प्रज्ञप्ति-१, जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९५६
५. पतंजल ऋषि : पातंजल योग सूत्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, काशी, १९७९
६. नेमीचन्द्र जैन (सं०) : तोर्थकर, साधुमार्ग विशेषांक, १७, ५-६ १९८७
७. आ० उमास्वामि : तत्त्वार्थ सूत्र, वर्णी ग्रन्थमाला, काशी, १९५५
८. आ० पूज्यपाद : सर्वार्थसिद्धि, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७१
९. भट्ट अकलंक : तत्त्वार्थ राजवातिक-२, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९५७
१०. आचार्य, शुभचन्द्र : ज्ञानाणंद, जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९७७
११. आचार्य, शिवार्य : भगवती आराधना, वही, शोलापुर, १९७८
१२. आचार्य, वट्टकेर : मूलाधार, माणिकन्द ग्रन्थमाला, बम्बई, १९२२
१३. स्वामी, सुधर्मा : भगवती सूत्र, श्वे० स्था० शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९६१
१४. आचार्य, कुन्दकुन्द : प्रवचनसार, पाटनी ग्रन्थमाला, मारोठ; १९५०
१५. आचार्य, कुन्दकुन्द : (१) नियमसार (२) समयसार, अजिताश्रम, लखनऊ, १९३०-३१
१६. आचार्य, भीखण जी : नवपदार्थ, श्वे० ते० महा सभा, कलकत्ता, १९६१
१७. युवाचार्य, महाप्रज्ञ : प्रेक्षाध्यान का यात्रा-पथ, जैन विश्व भारती, लाडनू, १९८४
१८. समणी, स्मित प्रज्ञा : तुलसी प्रज्ञा, ११, ५, १९८५
१९. — उत्तराध्ययन, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९७२
२०. सुधर्मा स्वामी : आचारांग, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, १९८०
२१. सुधर्मा स्वामी : सूत्रकृतांग, वही,
२२. सुधर्मा स्वामी : स्थानांग, वही,
२३. सत्यानन्द सरस्वती (सं०) : योग विद्या के अनेक अंक
२४. आचार्य, शश्यंभव : ब्रह्मकालिक, जैन विश्वभारती, लाडनू, १९८४
२५. सुधर्मा, स्वामी : समवायांग, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, १९८३
२६. सेन, मधु, डा० : कल्चरल स्टडी आथ निशीथ चूर्णि, पा०, वि०, काशी, १९७५
२७. समन्तभद्र, आचार्य : स्वयम्भू स्तोत्र, निर्देश, १ पेज १३
२८. रामसेन, आचार्य : तत्वानुशासन, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, १९६३
२९. आचार्य हेमचन्द्र : योगशास्त्र, वही० एस० जैन ग्रन्थमाला, सूरत, १९३८
३०. बुद्ध घोष : विशुद्धि मग्न, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९४०
३१. कुमार कवि : आत्मप्रबोध, सिधई धन्यकुमार, कटनी, १९८८

